International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.882, Volume 05, No. 02(III), April - June, 2023, pp. 53-58

सामाजिक न्याय की सम्भावनायें क्या केवल "आदर्श" है?

डॉ. मणिमाला शर्मा*

प्रस्तावना

जब एक चिन्तनशील प्राणी अपने चिन्तन का केन्द्र समाज को बनाता है तब उसका कार्य समाज विज्ञानों की मान्यताओं के मूल में स्थित तर्को से प्रारम्भ होकर उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा करने तक जाता है।

अर्थात यहां इसके दो पक्ष स्पष्ट होते है जिसमें ज्ञानशास्त्रीय पक्ष सामाजिक जीवन के मौलिक सिद्धांतों तथा अवधारणाओं से सम्बन्धित है। जो समाज विज्ञानों के सत्यो, आवश्यक मान्यताओं तथा निष्कर्षो की समीक्षा करता है । मीमांसात्मक पक्ष सामाजिक जीवन के चरम मूल्यो तथा उनकी प्राप्ति के साधनों की विवेचना करता है। वहीं मूल्य

निस्संदेह दर्शन का क्षेत्र समाज दर्शन की अपेक्षा अधिक व्यापक है और समाज दर्शन पर दार्शनिक सिद्धांतो का भी प्रभाव पड़ता है।

न्याय की पूर्व मान्यता सामाजिक व्यवस्था में अन्याय तो समानता की पूर्व मान्यता सामाजिक व्यवस्था में असमानता है। समानता की समस्या को उत्पन्न किया है। समाज में व्याप्त असमानता ने ही कुछ लोगो को समाज की सभी सुविधायें प्राप्त है और किसी को खाने के लाले पड़े रहते है। ऐसी ही सामाजिक न्याय से समानता की अवधारणा जुडी है।

समान का अर्थ है । और । समान है। जब एक पदार्थ के सभी बिन्दु और दूसरे पदार्थ के संवादी बिन्दु एक प्रकार के हो तो वे समान माने जाते है। निरपेक्ष अर्थ में यह समानता है किन्तु मनुष्यों के बीच ऐसी समानता सम्भव नहीं है। जीव विज्ञान के अनुसार मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक बनावट के अनेक कारण होते हैय वंश, जलवायु, पोषक तत्व, वातावरण आदि। इसलिए एक मनुष्य का दूसरे से रंग–रूप, आकार, शारीरिक बल, मानसिक क्षमतायें, भावनायें भिन्न होती है। इन सब बातों में वे असमान होते है। मनुष्य के जितने असमान गुणों या असमानताओं का उल्लेख किया जाय पर उनमें एक तथ्य समान है और वह है उसका मनुष्यत्व। उसके रंग–रूप, आकार, धन, बुद्धि असमान हो सकते हैं पर वह मनुष्य है और उस नाते वह दूसरे मनुष्य के समान है। अतः भेद ऊपरी बातों में है, समानता मौलिक तथ्य में।

लास्की ने बतलाया है कि समानता का अर्थ समान व्यवहार या मेहनत का समान पुरस्कार। मनुष्य मनुष्य के बीच आवश्यकताओं तथा क्षमताओं में भेद होता है। एक शिक्षक और एक झाडू देने वाला दोनो एक स्तर पर नहीं रखे जा सकते। **बार्कर** ने कहा है कि समानता एक निगमित मूल्य है। आत्मविकास के सर्वोपरि मूल्य से यह निगमित है। इसका लक्ष्य है प्रत्येक एक समान तथा बराबर पर प्रत्येक अपनी दिशा तथा अपने वेग के अनुसार ।

समानता बराबर करने की किया है इसलिए इससे तीन बातों का बोध होता हैः–

- विशेष सुविधाओं का अभाव। राजनीतिक दृष्टि से सभी का राजनीतिक अधिकार समान है।

* सहायक आचार्य दर्शनशास्त्र, राजकीय महाविद्यालय रोहट, पाली, राजस्थान।

- सभी को समान अवसर।
- मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं की समान रूप से पूर्ति।

समाज सम्बन्धों की व्यवस्था है । व्युत्पत्ति के अनुसार श्रनेजपबम उस व्यवस्था का नाम है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे से सम्बद्ध रहता है। इन्ही सम्बन्धों के आधार पर उसके कर्त्तव्य तथा अधिकार होते है। उन्ही कर्तव्यों तथा अधिकारों की व्यवस्था न्याय है।

न्याय एक विकासशील अवधारणा है। **प्राचीन युग** में न्याय को एक सामान्य के रूप में विचारा जाता था। ईश्वर के आदेशों का पालन न्याय माना गुण जाता था। **भारतीय विचारकों** ने भी धर्म के अर्न्तगत ही न्याय की व्याख्या की है। **प्लेटो** ने न्याय शब्द का व्यवहार नैतिक अर्थ में किया है। उसने दो प्रकार के न्याय की चर्चा की है। व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक न्याय भी। **अरस्तू** ने न्याय में कुछ हद तक समानता को समाहित बतलाया है। **मध्यकालीन युग** में न्याय को गुण और तत्व दोनो रूपों में विचार गया है। कुछ विचारको ने न्याय को विवेक से सम्बद्ध माना है। उपयोगितावादियों ने न्याय को एक प्रक्रिया के रूप में विचार किया है जिनका लक्ष्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख प्राप्त करना बतलाया गया। **मार्क्स** ने न्याय के आर्थिक पक्ष को ही महत्वपूर्ण माना है। वर्तमान दार्शनिकों के अनुसार न्याय का अर्थ उन हितों को प्रदान करना है जिससे प्रत्येक व्यक्ति का अधिकाधिक विकास हो सके।

हम यह कह सकते है न्याय उन मान्यताओं और प्रक्रियाओं की व्यवस्था है जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार दिये जाते है जिन्हे समाज उचित मानता है।

इस व्याख्या से न्याय के तीन पक्ष स्पष्ट होते हैः–

- प्रथम : तत्कालीन समाज की मान्यताओं से है क्योंकि अधिकार और दायित्व की मान्यतायें हर युग में बदलती रहती है।
- दूसरा : अधिकारों की प्राप्ति तथा कर्तव्यों के पालन के लिए कानूनों की व्यवस्था।
- तीसरा : समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों और सुविधाओं को जुटाना।

न्याय की अवधारणा जटिल हैः–

- यह कानून के लिए भी प्रयुक्त होता है और सामाजिक नैतिकता के लिए भी। यद्यपि वैधानिक न्याय तथा नैतिक न्याय विरोधात्मक नहीं है तथापि अपने अपने क्षेत्र में अलग–अलग रीतियों से लागू किये जाते है।
- न्याय सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध माना जा सकता है या व्यक्तिगत अधिकारों का व्यक्त रूप।
- न्याय को रूढिवादी रूप में या सुधारवादी रूप में विचारा जा सकता है।
- न्याय को तात्विक रूप में या एक सामान्य गुण के रूप में एक प्रक्रिया के रूप में भी विचारा जाता है।

जब हम **वैधानिक तथा सामाजिक न्याय** की बात करते है तब कानून के क्षेत्र में न्याय के अर्न्तगत वे सारे सिद्धांत या प्रक्रियाऐं आती है, जिनका हमें पालन करना चाहिए। कानून में प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों की भी चर्चा की जाती है । ये भौतिक और आधारभूत सिद्धांत है जिन पर अन्य सिद्धांत आधारित रहते है।

संविधान निर्माताओं ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए और समाज में प्रत्येक सदस्य के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की प्राप्ति के लिए मूल अधिकार अंगीकृत किए।

कोई भी व्यक्ति संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को स्वेच्छा से त्याग ने या स्वयं दोषी बनने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। क्योंकि मूल – अधिकार केवल व्यक्तिगत हित के लिए नहीं बल्कि जनसाधारण के हित में लोकनीति के आधार पर संविधान में शामिल किए गए है।

मूल अधिकार आत्यन्तिक है। इनके उपयोग पर युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाए जा सकते है। संविधान में उन परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख किया है जबकि राज्य को यह अधिकार होगा कि जनसाधारण के हित में नागरिकों के मूल अधिकारों को निलम्बित किया जा सके या उनके प्रयोग पर निर्बन्धन लगाया जा सके।

- प्रतिरक्षा सेना से सम्बन्धित व्यक्तियों के मामले में (अनु. 33)
- मार्शल लॉ (सैनिक विधी) लागू होने पर संसद मूल अधिकारों के प्रयोग पर निर्बन्धन लगा सकती है। (अनु. 34)
- आपात उद्घोषणा के समय अनु. 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति गोलिक अधिकारों को निर्बन्धित कर सकता है।
- अनु. 368 के अर्न्तगत संविधान संशोधन द्वारा मूल अधिकारों को न्यून किया या छीना जा सकता है। परन्तु केशवानन्द भारती के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद इस शक्ति के प्रयोग के द्वारा संविधान के आधारभूत ढांचे में परिवर्तन नहीं कर सकती।

दूसरी ओर –

सामाजिक नैतिकता का आधार न्याय अवश्य है पर न्याय सम्पूर्ण सामाजिक नैतिकता नहीं है। सामाजिक नैतिकता का क्षेत्र न्याय की अपेक्षाकृत विस्तृत है । दान देना सामाजिक नैतिकता के अन्तर्गत है पर न्याय नहीं है। कानून का संबंध अधिकारों की रक्षा से है। इसलिए इसकी प्रक्रियाओं को न्याय कहा जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जो कानून में हो सभी न्यायपूर्ण है। कानून ऐसे भी होते है जो नैतिक दृष्टि के न्यायपूर्ण नहीं होते।

न्याय की बात जब हम समाज की व्यवस्था या व्यक्तिगत अधिकारों के रूप में करते है तक स्पष्ट हो जाता हैं कि न्याय वैधानिक हो या नैतिक उसका संबंध समाज की व्यवस्था से है। उस व्यवस्था का उल्लंघन न्याय का उल्लंघन माना जाता है और उसके लिए दण्ड का विधान है। जो कि समाज व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए दिया जाता है । न्याय की अवधारणा का प्रयोग व्यक्ति के अधिकारों को प्राप्त करने के लिए भी किया जाता है। यद्यपि सामान्यतः समाज और व्यक्ति के हितों में विरोध नहीं होता पर ऐसा होने पर व्यक्ति के अधिकारों को उजागर करने के लिए न्याय की अवधारणा का प्रयोग होता है। यह बात तो विवाद का ही विषय कही जायेगी कि समाज – हित के लिए व्यक्तिगत अधिकारों का हनन न्याय है या नहीं?

न्याय के संबंध में एक रूढ़िवादी सिद्वान्त के रूप में या सुधारवादी सिद्वान्त के रूप में विचार करने पर रूढ़िवादी रूप में तो न्याय स्थापित व्यवस्था की रक्षा करता है और जो उक्त व्यवस्था के विरूद्ध है उसे अन्याय कहा जाता है। सुधारवादी रूप में न्याय सामाजिक व्यवस्था में तत्कालीन विचारों का समावेश करता है।

न्याय तात्विक रूप में या एक प्रक्रिया के रूप में या सामान्य गुण के रूप में देखने पर स्पष्ट होता है कि ऐसी प्रक्रिया में न्याय की अवधारणा का प्रयोग एक तत्व के रूप में किया जाता है। मध्यकालीन दर्शन में भी ऐसा देखा जाता है। इसे कानून की उचित प्रक्रिया भी कहा गया है। न्याय की अवधारणा का प्रयोग सामान्य गुण के रूप में भी होता है जहां न्याय और औचित्य पर्यायवाची है।

न्याय की भौतिक अवधारणा ईश्वर द्वारा ही निःसृत होती है। हमारे सामने उपस्थित जगत की व्याख्या करने पर हम पाते है जिस प्रकार विश्व में विद्यमान विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों का कोई कारण अवश्य होता है उसी प्रकार इस विश्व का भी कोई कारण अवश्य है और उसे ही हम 'ईश्वर' कहते है। ईश्वर ने जगत् रूपी जो वरदान मनुष्य को दिया है उसमें कही अन्याय दिखाई नहीं देता। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश की सर्वव्यापकता इस तथ्य को स्पष्टतः प्रमाणित करती है। ग्रहों–नक्षत्रों का प्राकृतिक – नियमों का, ऋतुओं दिन–रात का चक्र और ब्रह्माण्ड में एक व्यवस्था समायोजन और प्रयोजन है। उसी प्रकार समाज में व्यवस्था और समायोजन हेतु न्याय आवश्यक हैं। जहां योग्यतम की रक्षा के स्थान पर न्याय और अयोग्यतम की रक्षा का प्रश्न हो जाता है। मानवता उस दिशा में बढ़ना चाहती है जिसमें योग्य की ही रक्षा नहीं हो, बल्कि अयोग्य का भी स्थान हो।

कर्म सिद्वान्त की अनिवार्य मांग संसार के सभी मनुष्यों के साथ न्याय करना है अर्थात उनके शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार उन्हें सुख–दुःख प्राप्त हो। भारतीय दार्शनिकों ने कर्म – सिद्वान्त के आधार पर कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। जिस प्रकार नीतिशास्त्र का संबंध व्यक्तिगत आचरण से है उसी प्रकार समाज दर्शन समुदायों और सामाजिक संस्थाओं से संबंधित है। समाज और व्यक्ति दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है। समाज की समुन्नति की समस्या का समाधान बिना वैयक्तिक नैतिकता का विचार किये संभव नहीं है। शुभाशुभ कर्मों की विवेचना समाज की स्थिति जाने बिना संभव नहीं हैं।

वास्तविकता की ओर दृष्टिपात करें तब स्पष्ट हो जाता है कि एक जैविक, भौतिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक प्राणी होने के नाते न्याय और सामाजिक न्याय की बातें तो बहुत हो जाती है परन्तु यर्थाथता कुछ और रही है। यदि यह कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि :–

"बस एक ही उल्लू काफी था बर्बादे गुलिस्तां करने को,
हर शाख पे उल्लू बैठे है अन्जामें गुलिस्तां क्या होगा?"

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इस नाते समाज मनुष्य पर और मनुष्य समाज पर अन्योन्याश्रित है। समाज मनुष्यों से बना है अर्थात् उसका अस्तित्व ही व्यक्तियों पर निर्भर है तथा दूसरी ओर व्यक्ति समाज से अलग रहकर अपना विकास नहीं कर सकता । समाज की जिसे आवश्यकता नहीं है वह या तो ईश्वर है अथवा पशु । सामाजिक न्याय की गुहार लगाता मानव मन हर तरह का न्याय प्राप्त करना चाहता. है। समाज में सभी को शिक्षा के समान अवसर प्राप्त करने का अधिकार है। किन्तु हम देखते है कि धन के ठेकेदारों ने उच्च शिक्षा दिलाने हेतु अपनी सन्तानों को डमकपबंस व म्दहपदममतपदह के चंलदपमदज`मंज पर प्रवेश दिलवाने की प्रथा पाल रखी है। जबकि गरीब घर के बच्चों को योग्य होते हुए भी निराशा का ही दामन थामना पडता है।

समाज के ट्ण्ण्च्ण् लोगो के साथ अन्याय या लूट–पाट जैसी घटना घटित होती है तो उसे अखबारों की सुर्खिया बनते तनिक भी समय नहीं लगता। मीडिया का अन्याय क्या यहां स्पष्ट नहीं होता जब अमिताभ की कोलाइटिस (बड़ी आंत की सूजन) तो अखबार की भ्मंकसपदम बन जाती है किसी विदेशी महिला की अस्मिता पर बन आती है तो चन्द दिनो में न्याय मिल जाता है परन्तु ऐसा अन्याय जब किसी भारतीय महिला के साथ होता है तब ये अदालतें तारीखों के अलावा उसे क्या देती है? मीडिया उस समय कहाँ चला जाता है तब किसी अमीर पिता, किसी नेता का नशे में धुत्त बेटा राह चलते किसी व्यक्ति को कुचल कर चला जाता है? गरीबों को मिलते है हाशिये और तथाकथित प्रतिष्ठित लोगों को मिलती है सुर्खियां। किसी महानायक याय विदेशी को भ्पही स्पहीज करना उस समय सही भी हो सकता है तब एक गरीब असहाय और उपेक्षित की पुकार को भी उतना ही वजन दिया जाय।

तथापि हम इस बात को नकार नहीं सकते कि आजकल मीडिया द्वारा उन लोगो को भी न्याय दिलवाया जा रहा है जो कि समाज से अपने परिवार से क. यानि अपनों के ही सताये है। हम बात कर रहे है मानसिक विश्लांगों की।

देखने को मिलता है कि इस वर्ग को प्रायः स्वजनों द्वारा ही सताया जा रहा है जबकि होना यह नहीं चाहिए क्योंकि जिसके साथ स्वयं कुदरत ने अन्याय किया है उसे अपना जीवन निर्वाह करने हेतु अपनों का प्यार सम्बल मिले। इसके लिए हमारे समाचार–पत्रो ने अहम् भमिका निभाई व आज ये लोग उपयुक्त चिकित्सा व सुविधा की उपलब्धता के कारण सामाजिक – न्याय को जो उन्हे दिलवाया गया है उसका अवाक रूप से शुक्रिया उनकी नम आखों में स्पष्ट झलकता देखा जा सकता है।

आज अगर सुविधायें बांटने की बात आती है तो यही दिखता है कि **"अंधा बाटें रेवडी फिर फिर अपनो को ही देय।"** यानि नियम कानून ही – इस तरह के बनाए जाने लगे है कि उससे सर्वहारा वर्ग को न्याय नहीं मिलेगा यह सोचना उसी तरह व्यर्थ है जिस तरह बंजर भूमि में फूल खिलाना।

जब एक नेता अपने भाषण में तथाकथित वादों द्वारा समाज के जिस वर्ग को आरक्षण देने की बात करता है उपस्थित जन समुदाय में से यही देखने को मिलता है कि मात्र उसी समुदाय के लोगो की करतल ध्वनि गुंजायमान होती है। कारण स्पष्ट है कि जब जनता ही यह नहीं चाहती है कि उपेक्षित जन–समूह को समानता का दर्जा मिले लेकिन यह जरूर चाहती है कि हमें ही सर्वसुलभ हो जाये।

न्याय की पुकार करता गरीब जन्म भर कचहरी की ठोकरे खाकर ही निकाल देता है। फिर भी उसकी बात सुनने वालों के कानो तक नहीं पहुंचती है। समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनेता तो इसी में व्यस्त रहते है कि आज यहां सभा है तो आज यहां उद्घाटन है। यानि जब रोम जल रहा होता है तो लगता है कि शासक नीरो वीणा बजा रहा होगा।

अपनी सन्तानों हेतु जीवन हविष्य कर देने वाले वृद्धो को घर में ही बेकार व अनुपयोगी सामग्री की श्रेणी में समझा जा रहा है। वृद्धों को केवल वृद्धाश्रमों की शोभा माना जाने लगा है।

एक तरफ दुनियाभर में सुधार का सिद्धांत बनाम अपराध पर रोक के लिए सजाश के विचार पर बहस हो रही है, जिसका मकसद सजा के प्रावधान को मानवीय स्वरूप प्रदान करना है, ताकि अपराधी को भी सुधार का मौका मिल सके, लेकिन दूसरी ओर सऊदी अरब में "आंख के बदले आंख" का अमानवीय और मध्यकालीन कानून लागू किया जा रहा है। वहां की अदालत ने एक भारतीय नागरिक की आंख निकाल लेने की सजा सुनाई है, क्योंकि उसके साथ हुए झगड़े में एक सऊदी नागरिक की आंख में चोट लगी थी और बाद में उसकी आंख चली गई थी। मध्यकाल में जब कानून की कोई सार्वभौमिक संहिता नहीं बनी थी, तब हर समाज या कबीला अपना कानून खुद बनाता था। उस कानून के समक्ष व्यक्ति की समानता सुनिश्चित नहीं होती थी, बल्कि समानों के लिए समान कानून का प्रावधान होता था। असभ्य और बर्बर लोगों को कानून की सीमा में बांधने के लिए उन्हें बताया गया था कि कानून दैविक हैं यानी कानून को धर्म के साथ जोड़ा गया था। समय के साथ स्थितियां बदली और कानून की एक सार्वभौमिक संहिता बन गई, जो थोड़े–बहुत बदलाव के साथ पूरी दुनिया में लागू है।

सऊदी अरब की घटना मामूली झगड़े की घटना है, जिसमें भारतीय नागरिक ने इरादतन सऊदी नागरिक की आंख नहीं फोड़ी, बल्कि उसने अपना बचाव किया और इसी क्रम में, सऊदी नागरिक की आंख में चोट लगी; हर व्यक्ति को अपने बचाव का अधिकार है, जिसे किसी कानून के तहत नहीं छीना जा सकता है, लेकिन शायद सऊदी अरब की अदालत को इससे वास्ता नहीं है कि विवाद किन परिस्थितियों में हुआ। अदालत ने फैसला इस आधार पर सुनाया कि अंतिम रूप से व्यक्ति की आंख गई और इसकी कीमत आरोपी को अपनी आंख देकर चुकानी होगी। इस्लाम में यह प्रावधान है कि अगर पीड़ित व्यक्ति आरोपी को क्षमा कर दे तो कानून उसे क्षमा कर सकता है। इसलिए एक उम्मीद यह है कि पीड़ित व्यक्ति आरोपी को क्षमा कर दे या भारतीय दूतावास वहां के शासकों से क्षमा प्रार्थना करे। दोनो स्थितियों में भारतीय नागरिक के बचाव का रास्ता निकल सकता है। यह अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था और मानवता के सिद्धांत के संगत होगा।

जहां तक अपराधियों की बात है तो आवश्यकता इस बात कि है दण्ड व्यवस्था कुछ इस तरह कि हो कि अपराधी का परिवार दण्डित न हो अपितु जिस परिवार के साथ अन्याय हुआ है उसे न्याय मिल सके अर्थात् अपराधी स्वयं अपना जीवन उस परिवार को समर्पित कर दे।

समाज में फैले अन्याय को न्याय में बदलने हेतु ही राम को कृष्ण को अवतार लेना पडा था। **महाभारत में श्री कृष्ण ने कहा है :–**

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लार्निभवति भारतः
अभ्युत्थानम् अर्धमस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम
परित्राणाम च साधुनां विनाशाय च दुश्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थायम् संभवामि युगे युगे।

न्याय दिलवाने के लिए ही गांधी को गोडसे की गोली झेलनी पडी थी, इसी हेतु मदर टेरेसा ने अपना जीवन हविष्य किया था, इसी हेतु रानी लक्ष्मीबाई ने हाथो में तलवार उठाई थी। सामाजिक न्याय के लिए ही हमारी वीरांगनाओं ने अपने सुहागो को युद्ध में भेजा था। हमें आज भी हाड़ा रानी के त्याग को विस्मृत नहीं करना चाहिए। जिन्होने अपनी गर्दन काटकर स्वयं के प्रति पति का मोहभंग कर उसे युद्ध भूमि में भेजा ताकि वह वीरतापूर्वक युद्ध कर अपनी प्रजा को न्याय दिला सके।

अतः निष्कर्षतः हम यहीं कहेंगे कि न्याय हेतु वैधानिक सामाजिक सभी स्तर पर नियम तो अवश्य बनाये गये है परन्तु ये दायित्व जिन चन्द लोगों पर है उनमें से अधिकांश अपनी आन्तरिकता से पूर्णतया गिर चुके है।

आज महती आवश्यकता है कि उनका अन्तःकरण तथा दायित्वबोध जागे और यह कार्य कोई बाहरी शक्ति द्वारा नहीं अपितु स्वयं उनकी अन्तः चेतना के जागृत होने से ही सम्भव हो सकता है।

यह मात्र और मात्र तभी होगा जब वे अपने अन्तःकरण की बात सुनेंगे तथा उसी को कार्यरूप में परिणित कर सभी को न्याय दिलवाने हेतु स्वयं को बाध्य करेंगे।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौबे, कमल नयन, (अनु.), समकालीन राजनीति दर्शन; एक परिचय, दिल्ली, पियर्सन, 2013
2. गुर्जर, लीलाराम, बीसवीं सदी के राजनीतिक विचारक, नई दिल्ली, मनोहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 1997
3. दाधीच, नरेश, समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त, जयपुर, रावल पब्लिकेशन्स, 2015

❖◆❖